

साहित्य की मार्क्सवादी दृष्टि

Dr. Asha Tiwari Ojha*

Associate Professor, Department of Hindi, Sunderwati Mahila College, Tilka Manjhi Bhagalpur University, Bihar

सार – साहित्य और कला में यथार्थ की अभिव्यक्ति को महत्वपूर्ण मानते हुए, 'यथार्थवाद' को विश्व कला और साहित्य की सर्वोत्तम देन मानते थे। एंगेल्स के अनुसार "यथार्थवाद का अर्थ, "तफसील की सच्चाई का, आम परिस्थितियों में आम चरित्रों का सच्चाई भरा पुनर्सृजन है।"[1] यथार्थवाद की आवश्यकता दरअसल प्रगतिशील लेखकों के लिए विचारधारात्मक और राजनीतिक प्रतिबद्धता के समान ही है। प्रगतिशील लेखकों का यह दायित्व बनता है कि उनकी रचनाओं में प्रगतिशील विश्वदृष्टि का स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई पड़े। इसके साथ ही उसका प्रयोजन भी स्पष्ट होना चाहिए। मार्क्स-एंगेल्स साहित्य में प्रयोजन मुखता के विरोधी नहीं थे। प्रयोजन मुखता के उस स्वरूप को वो नकारते थे जिसमें प्रयोजन-फूहड़ता, कोरे-नीति प्रवचन, कलात्मकता की जगह उपदेशबाजी के रूप में आता है। एंगेल्स ने मिन्नाकाउत्सकी को लिखी गयी चिट्ठी में सच्ची प्रयोजन-मुखता की इन शब्दों में सटीक व्याख्या की "मेरे विचार में प्रयोजन को स्वयं स्थिति तथा क्रिया में-उस विशेष रूप से लक्षित किये बिना ही-प्रकट होना चाहिए तथा लेखक का काम यह नहीं है कि वह सामाजिक टकरावों के, जिनका वह वर्णन करता है, भावी ऐतिहासिक समाधान को पाठक के समाने तैयार शुद्ध रूप में प्रस्तुत करे।"[2]

-----X-----

मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' पर बात करते हुए साहित्यिक श्रम की उत्पादकता और अनुपादकता पर अपने विचार रखते हुए कहा कि "एक ही तरह का श्रम उत्पादक भी हो सकता है और अनुत्पादक भी। उदाहरण के लिए, मिल्टन, जिन्होंने[6] पैराडाइज लॉस्ट लिखा था और उसके लिए पाँच पौण्ड प्राप्त किये थे, अनुत्पादक श्रमिक थे। दूसरी ओर, लेखक, जो अपने प्रकाशक के लिये फैक्टरी के ढंग से काम करता है, उत्पादक श्रमिक है।"[3] इस अवधारणा के पीछे मार्क्स की ऐतिहासिक-भौतिकवादी चिंतन की प्रक्रिया है। दरअसल साहित्य जिस समाज में लिखा जाता है और जिसके लिए लिखा जाता है, उसमें साहित्य, समाज में प्रभावी उत्पादन और उपभोग की पद्धतियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। साहित्य की भूमिका क्या है? इसकी जरूरत क्यों? मार्क्स की दृष्टि में "साहित्य अभिव्यक्ति का साधन भर नहीं है, वह काफी हद तक आत्मनिर्माण का साधन भी है। मनुष्य और पशु के बीच एक बहुत बड़ा फर्क यह है कि मनुष्य अपनी भौतिक जरूरतों और वासनाओं को संतुष्ट करने के लिए ही श्रम नहीं करता बल्कि "सौन्दर्य के नियमों के अनुसार" रचना करता है। इसलिए साहित्य एक मानवीय जरूरत की पूर्ति करता है और अन्य कलाओं की तरह उन इंद्रियों को रचता तथा गढ़ता है जिनके जरिए हम इसका आस्वादन करते हैं। और कलाकृतियों की रचना और आस्वादन हमें अधिक पूर्ण मानव बनने में मदद देता है। रचना, आस्वाद के साथ उस रचना की सोद्देश्यता और प्रस्तुतिकरण महत्वपूर्ण है। साहित्यिक सौन्दर्यशास्त्र, विषयवस्तु

और उद्देश्य की प्राथमिकता के कारण ही वे मानते थे कि रूप का कोई मूल्य नहीं अगर वह अपनी अंतर्वस्तु का रूप नहीं है।' अन्तर्वस्तु का रूप, साहित्य का उद्देश्य, विषयवस्तु का स्वरूप, साहित्यिक इन सब कसौटियों पर कसकर मार्क्स ने साहित्य पर अपने विचार रखे। यही विचार बाद में चलकर मार्क्सवादी कला-साहित्य-चिंतन और और सौन्दर्यशास्त्र संबंधी मूल्यांकन के आधार को निर्मित करता है। मार्क्सवाद की इसी अवधारणा को केन्द्र में रखते हुए लेनिन ने 'पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन' में सर्वहारा कला और साहित्य की बात कही है। सर्वहारा साहित्य पर अपनी स्थापना देते हुए लेनिन कहा कि "यह साहित्य स्वतंत्र होगा, लालच अथवा पदलोलुपता की वजह से नहीं, बल्कि समाजवाद की भावना तथा श्रमजीवी जनता के प्रति सहानुभूति की वजह से नित नयी-नयी शक्तियाँ उसके साथ जुड़ती जाएंगी। यह साहित्य स्वतंत्र होगा, क्योंकि वह किसी ऊँची हुई नायिका की नहीं, गुर्दे पर बहुत चर्बी छा जाने की वजह से बीमार और उकताए हुए 'ऊपर के दस हजार लोगों' की नहीं बल्कि मेहनतकश जनता के करोड़ों और अरबों लोगों की- देश के सर्वश्रेष्ठ भाग की, उनकी शक्ति और उनके भविष्य की सेवा करेगा।"[4]

लेनिन के बाद जिस महान् राजनीतिक विचारक ने साहित्य और कला को मार्क्सवादी विचारधारा और सर्वहारा की राजनीति से जोड़ के देखा वोम-माओ-त्से-तुंग हैं। माओ-त्से-तुंग ने इसे चीनी क्रांति के सांस्कृतिक मोर्चे से जोड़ के जनता की मुक्ति

संघर्ष का अनिवार्य अंग बना दिया। उनका मानना था कि “क्रांतिकारी लेखक व कलाकार अपने सृजनात्मक श्रम से जनता के जीवन में मौजूद कच्चे माल को कला-साहित्य के एक ऐसे विचारात्मक रूप में ढाल देते हैं जो विशाल जन-समुदाय की सेवा करता है।”[5] इस तरह माओ-त्से-तुंग साहित्य को व्यापक जन समुदाय से जोड़ते हैं और उसे उनके जीवन से ही निकला हुआ (उत्पाद) मानते हैं। “साहित्य को हमारा कला साहित्य एक विशाल जन-समुदाय के लिए है, इसलिए हम पार्टी के भीतरी संबंधों की समस्या पर, यानी पार्टी द्वारा कला-साहित्य के क्षेत्र में किये जाने वाले काम और पार्टी द्वारा किये जाने वाले समूचे काम के बीच के संबंधों पर विचार कर सकते हैं।”[6]

मार्क्स-एंगेल्स के कला, साहित्य, सौन्दर्यशास्त्र संबंधी सारे चिंतन के मूल में विकास का ऐतिहासिक-भौतिकवादी अवधारणा है। इन चिंतनों का विकास आगे चलकर जिन राजनीतिक विचारकों में हुआ है, उनमें लेनिन, स्टालिन, माओ-त्से-तुंग प्रमुख हैं। इन लोगों ने साहित्य की मार्क्सवादी धारा का उपयोग सर्वहारा के संघर्ष, उनकी क्रांति के लिए किया। इन विचारकों ने साहित्य को सामाजिक विकास के साथ जोड़कर क्रांतिकारी स्वरूप प्रदान किया। इसके साथ ही मार्क्स के उस प्रसिद्ध विचार को केन्द्रीयता प्रदान किया, जिसमें मार्क्स ने कहा कि “क्या मानव-चिन्तन के लिए कहा जा सकता है कि वह वस्तुनिष्ठ (Gegenstandliche) सत्य का अवबोध कर सकता है, यह प्रश्न सैद्धान्तिक नहीं व्यावहारिक है। व्यवहार में मनुष्य को अपने चिन्तन की सत्यता, अर्थात् यथार्थता और शक्ति, उसकी इह-पक्षता (Diesseitigkeit) को प्रमाणित करना पड़ता है। व्यवहार में पृथक रूप में चिन्तन की यथार्थता या अयथार्थता सम्बन्धी विवाद कोरा वितण्डावादी प्रश्न है।”[7]

साहित्य का क्या है? साहित्य का जीवन से क्या लगाव है? हमारे सौन्दर्य को साहित्य किस रूप में प्रभावित करता है? साहित्य का स्वाधीनता से क्या रिश्ता है? श्रम से साहित्य का संबंध। साहित्य का आदर्श। साहित्य और राजनीति इन सभी बिन्दुओं पर प्रेमचंद ने अपनी बात रखी। साहित्यिक परम्पराओं के मूल्यांकन के साथ साहित्य के मूल्य की पहचान प्रेमचंद के अभिभाषण का केन्द्रीय बिन्दु है।

अभिभाषण की शुरुआत ही प्रेमचंद ‘भाषा’ के सवाल से करते हैं, उसका उद्देश्य, विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, किन्तु केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़ी महत्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आएगी?[8] भाषा के महत्व को स्वीकार करते हुए प्रेमचंद उसे ‘साधन’ मानते हैं, ‘साध्य’ नहीं। जो भाषा जितनी ही प्रौढ़ और

सशक्त होगी, उस भाषा का साहित्य उतना ही विकसित होगा। विकास का स्वरूप सकारात्मक होगा। नए-नए मौलिक विचार से लेकर कल्पना तक भाषा के माध्यम से ही मूर्तिमान होते हैं। भाषा जितनी अच्छी होगी विचार और साहित्य भी उतना ही अच्छा होगा। भाषा के इसी स्वरूप का विकास बाद में हम प्रगतिशील आंदोलन के दौरान देखते हैं। प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े या उससे प्रभावित साहित्यकारों की भाषा आम बोल-चाल के करीब है। उनके यहाँ भाषा की दुरुहता या चमत्कारपूर्ण-अलंकारिक शैली देखने को नहीं मिलती।

जीवन की सच्चाइयों और अनुभूतियों से युक्त साहित्य ही प्रभाव उत्पन्न कर सकता है, जिस साहित्य में न सच्चाई हो और न अनुभूति वह साहित्य के अलावे कुछ और हो सकता है, साहित्य नहीं हो सकता है। प्रेमचंद साहित्य को ‘जीवन की आलोचना’ के रूप में देखते हैं। उनका मानना है कि “चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।”[9] प्रेमचंद साहित्य की परिभाषा और व्याख्या कर रहे हैं तो उनके सामने पूर्ववर्ती पीढ़ी का साहित्य सामने था। जिस “साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था।” प्रेम, श्रृंगार, विरह, वेदना का काल्पनिक-चमत्कारिक प्रदर्शन[10] ही काव्यगत श्रेष्ठता के प्रतिमान हुआ करते थे। “श्रृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र है।”[11] लेकिन जिस साहित्य का बहुलांश इसी मनोभाव को व्यक्त करने में लगा हो, उस साहित्य और वहाँ के साहित्यिक विकास को समझने में चूक नहीं हो सकती। साहित्य के ऐसे काल खण्ड के बारे में लिखते हुए प्रेमचंद कहते हैं “जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और श्रृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और हास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उदयोग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।”[12] ऐसी परिस्थिति में साहित्यकार का दायित्व का काफी बढ़ जाता है। “साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, - उसका दरजा इतना न गिराये बल्कि वह मानव प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है,”[13] मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौके पर, इस तरह से आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है, अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है, जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण

पहुँचने में असमर्थ होता है।”[14] बदलती हुई राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति में साहित्य और साहित्यकार के दायित्व को प्रेमचंद समझ रहे थे। स्वाधीनता आंदोलन अब निर्णायक मोड़ पर था, क्रांतिकारी आन्दोलन ने स्वाधीनता की लहर को तेज कर दिया। ऐसे दौर में साहित्य मनोरंजन और मन-बहलाव के खॉंचे से निकलकर, हमारी अनुभूति, भावों और विचारों में गति पैदा करने लगा। मनुष्य के सौन्दर्यानुभूति को जगाने का यत्न करने लगा।

अपने अभिभाषण के क्रम में प्रेमचंद ने न केवल साहित्य और साहित्यकार के महत्व और उसके उद्देश्य पर अपनी बात रखी अपितु साहित्य में सौन्दर्य, सौन्दर्य की उपयोगिता, सौन्दर्य की कसौटी, कला का उद्देश्य, स्वाधीनता और साहित्य आदि महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर भी अपने विचार रखे। उन्होंने कहा कि दरअसल प्रकृति को जो स्वच्छंद रूप है, वही सौन्दर्य है और “कलाकार हममें सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता।”[15] इसके माध्यम से “वह हममें वफादारी, सच्चाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है।”[16] सौन्दर्य की इस व्यापक अवधारणा को बतलाते हुए वे सुंदरता की कसौटी को बदलने का आग्रह करते हैं, क्योंकि “अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी।”[17] और “उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखें।”[18] इस तरह प्रेमचंद सौन्दर्य के प्रचलित मानदण्डों पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए सौन्दर्य देखने वाली दृष्टि के विस्तार की बात करते हैं। इसके साथ ही वो सौन्दर्य को ‘स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं’ मानते। सौन्दर्य की भी सापेक्षता होती है।

प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में जारी घोषणापत्र में संघ के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि “साहित्य और दूसरी कलाओं को अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकाल कर उन्हें जनता के निकटतम सम्पर्क में लाया जाए, उनमें जीवन और वास्तविकता लाई जाए और वे उसे उज्ज्वल भविष्य का मार्ग दिखाएं जिसके लिए मानवता इस युग में संघर्षशील है।”[19] मानवता के संघर्षशील दौर में जब साहित्य भावोच्छवासों के आस-पास सिमटा रह रहा था, उस समय प्रगतिशील लेखकों ने अपने साहित्य के द्वारा उस भावोच्छवास को यथार्थ के धरातल पर लाकर, साहित्य को हमारे जीवन की बुनियादी समस्याओं और स्वतंत्रता के करीब लाकर खड़ा कर दिया।

प्रगतिशील आलोचना की आधारभूमि के निर्माण में शिवदान सिंह चौहान और रामविलास शर्मा की महत्वपूर्ण भूमिका है। इन दोनों लेखकों ने अपने साहित्य में पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों पर कड़ा प्रहार करते हुए साहित्य को जनोन्मुखी बनाया। प्रगतिशील मूल्यों को मानने वाले लेखक जीवन और साहित्य को समग्रता में देखने के

पक्षधर थे। वे इसको भिन्न न मानकर पूरक या एक दूसरे की अभिव्यक्ति मानते थे। समाज से कटा जीवन और समाज से कटा हुआ साहित्य दोनों नीरसता पर जाकर खत्म होता है। एक तरह से कोरी वायवी या काल्पनिक या आदर्शवादी स्थापनाओं पर आकर रुक जाता है। उसका कोई उद्देश्य नहीं होता है। शिवदान सिंह चौहान कला और साहित्य पर विचार करते हुए कहते हैं “केवल रचना-कौशल के कारण ही, और वाक्य विन्यास या शैली और कला के कारण ही कोई रचना श्रेष्ठ नहीं बन सकती.....उसका मूल्यांकन करने के लिए उसमें व्यक्त विचार-वस्तु और सामाजिक दृष्टिकोण को जाँचना भी आवश्यक है अर्थात् कला या साहित्य को सामाजिक उद्देश्य और उपयोग से अलग नहीं किया जा सकता। ये दोनों उसके आवश्यक अंग हैं।”[20] इस तरह कला और साहित्य उद्देश्य उसके रूपगत- सौंदर्यात्मक मूल्य तथा विषय-वस्तु एवम् विचार के समन्वित प्रभाव पर निर्भर होता है। साहित्य के उद्देश्य के पीछे उपयोगिता का प्रश्न पहले या तो गौण था या था ही नहीं।”[21] पहले जब सामंती काल में कविता मनोरंजन या आनंद प्रदान करने के लिए लिखी जाती थी, तब कविता का ‘उद्देश्य’ केवल रस का उद्रेक करना था और समाज का संगठन ऐसा था कि कविता या साहित्य के उपयोग का कभी प्रश्न ही नहीं उठता था। ‘उद्देश्य’ के अंदर ही ‘उपयोग’ शामिल था, अर्थात् दोनों को एक ही मान लिया जाता था। इस ‘उद्देश्य’ या उसमें शामिल ‘उपयोग’ की सीमाएं बहुत संकीर्ण थी।” सामंती युग के इस संकीर्ण सीमाओं से साहित्य जब बाहर निकला तो उसका उद्देश्य भी व्यापक हुआ। स्वतंत्रता आंदोलन की व्यापक अनुगूंज साहित्य में सुनने को मिलने लगा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध के स्वर के साथ-साथ शोषित, दमित, संघर्षशील किसानों, मजदूरों और स्त्रियों के स्वर ने अब केन्द्रीय स्वर का रूप ले लिया। साहित्यकार नए जीवन मूल्य और अपने परिवेश के प्रति ज्यादा संवेदनशील और जागरूक हुआ।

साहित्य के उद्देश्य और साहित्यालोचन के उद्देश्य को एक दूसरे का पूरक होना चाहिए न कि पूर्वग्रह-युक्त दृष्टि से अराजकतावाद की ओर उन्मुख। शिवदान सिंह चौहान ने इस तरह के पूर्वग्रहयुक्त आलोचना का कड़ा प्रतिवाद ‘परती: परिकथा’ पर उस समय हो रहे आलोचना को लेकर करते हैं- “साहित्यालोचन का मूल उद्देश्य और साहित्यिक प्रयोजन एकदम उलट गया है। जो किया जाना चाहिए व न करके, जो नहीं होना चाहिए, वह किया जा रहा है। यह स्थिति निश्चय ही गंभीरतापूर्वक विचारणीय है।” दरअसल, जब साहित्यालोचन के अंतर्गत केवल रूप पक्ष पर ही दृष्टि जाकर खत्म हो जाती है या फिर वस्तुजगत में जाकर नजर दिशाभ्रम की शिकार हो जाती है तो है तो साहित्यालोचन के उद्देश्य के साथ-साथ

साहित्य के उद्देश्य का प्रश्न भी सर्वथा एकांगी होकर रह जाता है। पूर्वग्रहयुक्त विश्लेषण के एकांगीपन के कारण “साहित्य का व्यापक उद्देश्य जीवन-सत्य का वैविध्यपूर्ण और मूर्त चित्रण न रहकर केवल वर्ग संघर्ष को चित्रित करना भर हो गया और समीक्षा का उद्देश्य रचना के वस्तु और रूप तत्वों की जाँच-परख के बाद उसका मूल्यांकन करना न रहकर केवल विशेष मतवादी दृष्टिकोण के चौखटे में ठूस-ठांस कर फिट की गई वस्तु का विश्लेषण करना भर हो गया।”[22]

कला और साहित्य के अंतःसंबंध, कला और साहित्य के उद्देश्य के साथ ही इसके वर्गीय आधार पर रामविलास शर्मा का विस्तृत कार्य है। रामविलास शर्मा ने अपने साहित्यिक एवम् वैचारिक लेखों के माध्यम से प्रगतिशील लेखक संघ के उद्देश्य को एक दिशा दी। साहित्य के स्थायित्व का प्रश्न हो, साहित्य में जनता के चित्रण का सवाल हो, स्वाधीनता आन्दोलन का साहित्य से संबंध का सवाल हो या फिर साहित्य के उद्देश्य का सवाल रामविलास जी ने अपने लेखों के द्वारा इन सवालों का जवाब दिया। प्रगतिशील आंदोलन की वैचारिकी को निर्मित करने का बड़ा श्रेय रामविलास शर्मा को जाता है।

रामविलास शर्मा का मानना था कि असंख्य जनता के संगठित संघर्ष की अभिव्यक्ति हमारे साहित्य में होनी चाहिए। क्योंकि इस संघर्ष के बाद का जो नया स्वतंत्र जीवन होगा। “उस उज्ज्वल भविष्य के साथ हमारी संस्कृति और साहित्य का महान् भविष्य भी जुड़ा हुआ है।”[23] इसीलिए लेखक या रचनाकार को अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से अलग नहीं रहना चाहिए। “अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से बचना वास्तव में एक प्रकार की कायरता है। लेखक इस उत्तरदायित्व को निबाहता है या नहीं, यह साहित्यिक प्रश्न ही नहीं, लेखक के लिए उसकी नैतिकता का प्रश्न भी है।”[24] रचनाकार की वैयक्तिक स्वाधीनता या नैतिकता का प्रश्न उसके सामाजिक स्वाधीनता से जुड़ा होता है। सामाजिक रूप से पराधीन व्यक्ति अपने जीवन की पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकता है। ‘इसीलिए अपनी स्वाधीनता का हमी लेखक, समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भी खूब पहचानता है, क्योंकि वह जानता है कि समाज के संघर्ष से ही उसे यह स्वाधीनता मिली है और वह साधारण जनता की स्वाधीनता का एक अंग है।’ भौतिक और सामाजिक प्रगति के बावजूद जनता के संघर्षों के चित्रण के प्रश्न पर प्रगति अभी भी संतोषजनक नहीं है। इसके पीछे के कारणों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए कि वे कौन-कौन सी स्थितियाँ हैं जिसके कारण साहित्य में जनता के प्रश्न पर एक मौन या यथास्थिति है। रामविलास शर्मा इन कमियों की ओर स्पष्ट इशारा करते हैं “साहित्य को जनता तक पहुँचाने के साधन पहले से ही कहीं ज्यादा हमारे पास है, फिर भी हम उनसे पूरा लाभ नहीं उठा पाते तो इसका एक ही कारण है

कि हम साहित्य के उद्देश्य को ही नहीं समझते।”[25] साहित्य के उद्देश्य में ही ‘साहित्य की भूमिका’ का प्रश्न निहित है। किसी भी साहित्य में “कलात्मक सौष्ठव के साथ-साथ उस साहित्य में व्यक्ति और समाज के विकास और प्रगति में सहायक होने की क्षमता भी होनी चाहिये।”[26] केवल अन्तर्वस्तु या केवल रूप साहित्य में एकांगिता का ही प्रसार करता है। और इस तरह के साहित्य में उद्देश्य का प्रश्न गौण हो जाता है तथा वितण्डा ज्यादा उभार पा जाता है। साहित्य का यथार्थ से गहरा संबंध होता है। यथार्थ को सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। मतलब कि इन परिस्थितियों में उन शक्तियों की पारस्परिक एकता और अंतर्विरोध को देखा जाना चाहिए।

हमारे स्वाधीनता आंदोलन पर भी अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और घटनाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। इन प्रभावों का चित्रण तत्कालीन साहित्य के भीतर देखा जा सकता है। इसलिए हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन स्थानीय स्तर पर लड़े जाने के बावजूद वैश्विक साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन का रूप ले रहा था। किसानों और मजदूरों का संगठित विरोध पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्वपूर्ण हिस्सा है। स्वाधीनता आंदोलन के इस स्वरूप की झलक या अभिव्यक्ति साहित्य में होने लगी थी और इसका संगठित रूप हमें प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के दौर में दिखलाई देता है। “प्रगतिशील साहित्य ने स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ आगे बढ़कर उसकी चेतना को प्रतिबिम्बित किया है।”[27] साहित्य में शांति, स्वाधीनता और जनतंत्र के लिए संघर्ष करने के उद्देश्य को रखा जाना चाहिए। इन सबको प्रभावित करने वाले कारकों की पहचान स्पष्ट रूप से साहित्य के अंतर्गत होने चाहिए। मनुष्य और समाज के विकास प्रक्रिया में शांति, स्वाधीनता और जनतंत्र जैसे मूल्यों की सकारात्मक भूमिका होती है।

साहित्य के उद्देश्य के अंतर्गत साहित्य एवम् अन्य कलाओं को पुनरुत्थानवादी शक्तियों तथा रूढ़िवादियों के प्रभाव से मुक्त कराके उसे जनता के निकट लाने तथा उसमें जनता की आकांक्षा और संघर्ष को चित्रित करना है। कोरे आदर्शवाद और रूपहीन कलावाद पर करारा प्रहार करते हुए प्रतिक्रियावादी और पतनोन्मुख साहित्य का विरोध साहित्य के उद्देश्य के मुख्य लक्ष्य होने चाहिए।

प्रगतिशील साहित्य के भीतर साहित्य के उद्देश्य को लेकर एक लम्बी बहस है। इस बहस में रामविलास शर्मा ने सार्थक हस्तक्षेप किया। रामविलास शर्मा का मानना है कि “जो अनुभव कलाकार हमें देता है, सामाजिक जीवन से निरपेक्ष

नहीं होता।”[28] ‘यह देखना होता है कि वह अपने सामाजिक जीवन में उस समय की प्रगतिशील शक्तियों का साथ देता है या प्रतिक्रियावादी शक्तियों का।’ रामविलास शर्मा ने अपने संपूर्ण लेखन में प्रतिक्रियावादी शक्तियों की पहचान कर उसकी सामाजिक और साहित्यिक भूमिका को रेखांकित करने का प्रयास किया है। “केवल रूप, केवल रूप” कहते हुए वे रूप के उपासक वास्तव में सामाजिक प्रतिक्रियावाद के पोषक बन गये।”[29] साथ ही “प्रयोग मूलक कविता को परखते हुए यह देखना होगा कि साहित्यकार किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न कर रहा है।”[30]

सामाजिक संघर्ष से उदासीन रचनाकार अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए ‘रूप-रूप’ या फिर ‘कला-कला’ की रट लगाते हुए अपने साहित्यिक उद्देश्य की भूमिका से मुँह चुराते रहते हैं। किसी कलाकृति या फिर रचना में इस तरह की एकांगिता नहीं होती है (होनी चाहिए) श्रेष्ठ कलाकृति या रचना हमेशा गंभीर सामाजिक सौन्दर्य की उत्कृष्टता के साथ सम्बद्ध होता है। साहित्य के उद्देश्य के पीछे कुत्सित समाजशास्त्रीयता, संकीर्णतावाद, प्राँपैगैण्डा आदि का कड़ा प्रतिवाद रामविलास शर्मा करते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. मार्क्स-एंगेल्स-साहित्य और कला (सं०), पृ०- 30, संस्करण जनवरी-2006, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ
2. वही, पृ०- 90
3. वही, पृ०- 138-139
4. लेनिन, पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन, पृ०- 23, संस्करण 2000, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ
5. माओ-प्से-तुंग की रचनाएँ, प्रतिनिधि चयन, पृ०- 217, संस्करण-2004 राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ
6. वही, पृ०-219
7. एंगेल्स, लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत, पृ०- 54, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ
8. सत्यप्रकाश मिश्र, प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध (सं०), पृ०- 86, II संस्करण- 2003, ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद
9. वही, पृ०- 87
10. वही, पृ०- 87
11. वही, पृ०- 87
12. वही, पृ०- 88
13. वही, पृ०- 95
14. वही, पृ०- 89
15. वही, पृ०- 90
16. वही, पृ०- 91
17. वही, पृ०- 93
18. वही, पृ०- 94
19. प्रगतिशील लेखक संघ का घोषणा-पत्र
20. शिवदान सिंह चौहान, साहित्य की समस्याएँ, पृ०- 73, II संस्करण- 2002, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली
21. वही, पृ०- 71
22. शिवदान सिंह चौहान, आलोचना के मान, पृ०- 47, संस्करण- 2002, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली
23. रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ०- 48, संस्करण- 1984, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
24. वही, पृ०- 22
25. वही, पृ०- 22
26. वही, पृ०- 35
27. वही, पृ०- 26-27
28. वही, पृ०- 15
29. वही, पृ०- 95
30. वही, पृ०- 30

Corresponding Author

Dr. Asha Tiwari Ojha*

Associate Professor, Department of Hindi, Sunderwati
Mahila College, Tilka Manjhi Bhagalpur University,
Bihar